समीक्षा-संवाद

कमल नयन चौबे की रचना
जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष
पर एकाग्र

जंगल की ह.क़दारी : राजनीति और संघर्ष
कमल नयन चौबे
सामयिक विमर्श ग्रंथमाला, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
मूल्य : 750 रु., पृष्ठ : 442

हाशियायी समाज और आदिवासी प्रश्न

कुँवर प्रांजल सिंह

कमल नयन चौबे की रचना *जंगल की ह.क़दारी* औपनिवेशिक इतिहास, लोकतांत्रिक चेतना, राष्ट्र-राज्य, सम्पत्ति, क़ानून तथा आदिवासियों के बीच होने वाली अंत:क्रियाओं का चतुर्भुज खींचती है। इन आधारों को दृष्टिगत रखते हुए मैंने इस समीक्षा को तीन भागों में बाँटा है। पहले भाग में मैंने मूलनिवास/जनजातीय के संवैधानिक प्रकरण तथा ऐतिहासिक बहसों को रखा है जिनके तहत अंग्रेज़ी शासन के दौर में अतिक्रमण की क़ानूनी प्रक्रिया को शामिल किया जाएगा। दूसरे भाग में इस अतिक्रमण की प्रक्रिया से आदिवासियों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव तथा उससे उत्पन्न समस्याओं की शिनाख़्त की जाएगी। तीसरे भाग में इस रचना की केंद्रीय अवधारणा— हाशियाग्रस्त समाज का विश्लेषण किया जाएगा। इसके तहत 'लीगलिज़म फ्रॉम बिलो' की प्रक्रिया रेखांकित की जाएगी।

जनजातीय/मूलनिवासी तथा संवैधानिक प्रकरण

आदिवासी शब्द का इस्तेमाल अनुसूचित जनजातियों और दूसरे ऐसे समूहों के लिए किया जाता है जिनकी जीवन-शैली और संस्कृति जंगल के संसाधनों से जुड़ी होती है। ये समुदाय स्वयं आदिवासी होने का दावा करते हैं।[1] आदिवासियों को भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों में विशेष सुरक्षा भी प्रदान की

[1] कमल नयन चौबे (2015) : 1.

गयी है। संवैधानिक रूप से लोकतांत्रिक क़ानून अपने समक्ष सबको समानता प्रदान करता है। यह समानता संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित है जिसमें विधि के समक्ष समता तथा विधियों के समान संरक्षण की बात कही गयी है। इस अनुच्छेद में दो शब्द मूल रूप से शामिल हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। एक है समानता और दूसरा संरक्षण। यदि ये दोनों शब्द संविधान में शामिल होते हुए सभी नागरिकों पर लागू किये जाते तो 'गाँव छोड़ब नाही, जंगल छोड़ब नाही, माई माटी छोड़ब नाही, लड़ाई छोड़ब नाही'[2] जैसे नारों और गीतों से जंगल क्यों गूँज उठते? ये नारे क़ानून के आततायी पहलुओं की तरफ़ इंगित क्यों करते? समझने की बात यह है कि आदिवासी और उनकी अस्मिता केवल हमारे संविधान की उपज नहीं है। वे एक राजनीतिक इतिहास का अंग भी रहे हैं। उन्हें जिस अतिक्रमण को झेलना पड़ रहा है उसकी प्रक्रियाएँ औपनिवेशिक दौर में शुरू हुई थीं।

औपनिवेशिक राज्य तथा अतिक्रमण का क़ानून

अंग्रेज़ी राज की सबसे नायाब पेशकश ज़मीन को पण्य बना कर उसे काग़ज़ी कारवाई का हिस्सा बना देना था। हार्डीमैन का मानना है कि सम्पत्ति के अधिकार की स्थापना ज़मीन के साथ जुड़ी है। औपनिवेशिक क़ानूनों का शीराज़ा तथा जनजातीय क्षेत्रों के आर्थिक दोहन का तंत्र इसी के इर्द-गिर्द खड़ा किया गया। यह परिघटना आधुनिक भारत में राज्य के निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है।[3] इसके तहत अतिक्रमण एक क़ानूनी आचरण का पर्याय है। यहीं सवाल उठता है कि आख़िर अतिक्रमण है क्या? इसे किस प्रकार आजमाया जाता है? इसे लागू करने के लिए क़ानून का तर्क कैसे गढ़ा जाता है? और ऐतिहासिक अफ़सानों को किस प्रकार वर्तमान के लिए प्रासंगिक बनाया जाता है?

सामान्य तौर पर 'अतिक्रमण' या 'अतिक्रमक' राज्य द्वारा प्रयोग किया जाने वाला शब्द है, जो जंगल की ज़मीन पर आदिवासियों की ग़ैर-क़ानूनी स्थिति की ओर संकेत करता है। लेकिन इस सरकारी शब्दावली के विषय में आदिवासियों का मानना है कि अतिक्रमक तो स्वयं राज्य और वन-विभाग जैसी संस्थाएँ हैं।[4] औपनिवेशिक शासन के दौर में अतिक्रमण की यह प्रक्रिया मूलतः दो स्तरों पर चलती है। एक स्तर है बहिष्कृत का, और दूसरा स्तर है आंशिक रूप से बहिष्कृत का। जहाँ वन अधिनियम द्वारा जंगल पर क़ब्ज़ा करने का क़ानूनी आधार तैयार किया गया, वहीं दूसरे स्तर पर औपनिवेशिक शासकों ने जनजातियों की अलग श्रेणी बनाने की कोशिश की। मिसाल के तौर पर 1874 का द *शेड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट एक्ट* लागू होना जिसमें कई ज़िलों को अनुसूचित ज़िलों का दर्जा दिया गया, और जिसका आधार बहिष्कृत या आंशिक रूप से बहिष्कृत के रूप में परिभाषित किया गया। 1919 का भारत शासन अधिनियम मूलतः बहिष्कृत तथा आंशिक रूप से बहिष्कृत ज़िलों की शासन व्यवस्था से जुड़ा हुआ था। बहिष्कृत ज़िले में व्यवस्था बनाए रखने की ज़िम्मेदारी केंद्र की तथा आंशिक रूप से बहिष्कृत ज़िलों की व्यवस्था की ज़िम्मेदारी गवर्नर की थी।[5] साथ ही 1935 के शासन अधिनियम के अनुसार असम को बहिष्कृत श्रेणी का दर्जा देते हुए अन्य जनजातीय इलाक़ों को आंशिक रूप से बहिष्कृत का दर्जा दिया गया।

राज्य तथा औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी ख़ूबी यह रही है कि वह अपना वर्चस्व क़ायम करने के लिए नयी-नयी श्रेणियों का निर्माण करता है। सुदीप्त कविराज का मानना है कि औपनिवेशिक शासन ने सार्वजनिक विमर्श पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए सार्वजनिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने

---

[2] काशीपुर में बॉक्साइट खनन के ख़िलाफ़ आदिवासी संघर्षरत जनसमूहों का गीत है जिसे के.पी. शशि द्वारा (25 जून 2009) क़लमबद्ध किया गया था. देखें : http:/kafila.org/2009/6/25 gaon-chodab-nahin/ प्राप्त किया : 16 जून 2014.

[3] डेविड हार्डीमैन (2002) : 110-111.

[4] कमल नयन चौबे ने अतिक्रमण की इस अवधारणा का प्रयोग कैम्पैन के विश्लेषण से प्राप्त किया है. देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 2.

[5] वही : 9.

का प्राधिकार ले रखा है।[6] इस संदर्भ में राज्य के प्रारूप का आधार भी महत्त्वपूर्ण है। युरोप में राज्यों का विकास आंतरिक अवयवों तथा क्रियाकलापों पर निर्भर करता है, जो उनके ऐतिहासिक अनुभव की देन है। इसके विश्लेषण से जन्मी संस्थाएँ और उदारतावादी लोकतंत्र के प्रारूप की यह पूरी प्रक्रिया पॉपुलर या आमफ़हम के अनुभव पर आधारित थी। वहीं भारत में राज्य की स्थापना का निर्माण बाहरी आवरणों से निर्मित होता है।[7] निकोलस डर्क्स की अवधारणा 'एथ्नोग्राफ़िक स्टेट' के आधार पर कमल नयन यह मानते हैं कि औपनिवेशिक राज्य भारतीय समाज के मानव-शास्त्रीय ज्ञान से संचालित रहा है। ज़मीनी काग़ज़ातों का दौर भी इसी के साथ चलता है, जिससे इस राज्य की मौलिकता का पता मिलता है। इसके तहत वह अपने साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिए जंगल पर निर्भर रहने वाली जनजातियों से जंगल की ज़मीन पर अपना स्वामित्व दिखाने के लिए कोई लिखित दस्तावेज़ पेश करने की माँग करता है। ऐसा न करने पर वह कहता है कि ज़मीन से जनजातियों के अधिकारों को समाप्त कर दिया जाएगा। 'अतिक्रमण' की क़ानूनी अवधारणा का जन्म इसी प्रक्रिया से हुआ और आदिवासियों को इसी के तहत अतिक्रमणकारी घोषित किया गया।

अतिक्रमण की यह समस्या देश के सभी जंगलों में मौजूद है। अमूमन इतिहासकारों में भी सहमति है कि स्वामित्व की क़ानूनी धौंस साम्राज्यवादी हितों को बढ़ाने का पैंतरा थी। इसके सदैव दो चरित्र रहे हैं। एक तरफ़ तो जंगल का जम कर दोहन किया गया और दूसरी तरफ़ वहाँ रहने वाले समूहों को उनकी ही ज़मीन पर अधिकारहीन घोषित कर दिया गया। इस संबंध में औपनिवेशिक राज्य 'एमिनेंट डोमेन' जैसे सिद्धांत का प्रयोग करता था। इसके अनुसार सम्प्रभु दो शर्तें पूरी करके अपने क्षेत्रों में आने वाली ज़मीन या इसके संसाधनों पर अपना स्वामित्व घोषित कर सकता है। पहला, जिन स्थानों पर व्यक्तिगत हित की जगह सार्वजनिक उद्देश्य ज़्यादा बड़ा हो, दूसरा राष्ट्रीय हित व्यक्तिगत या सामुदायिक हित से ज़्यादा बड़ा हो। औपनिवेशिक दौर में बने 1878 और 1927 के वन अधिनियम और 1894 में भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे क़ानून में इसी सिद्धांत का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार के नियमों/सिद्धांतों से अतिक्रमण को ही बढ़ावा मिला है।

आदिवासी जीवन, जंगल और अतिक्रमण

यह चर्चा आरम्भ करने से पहले एक ऐसी रचना का ज़िक्र ज़रूरी है जो सौ साल से भी अधिक पुरानी है। यह है रवींद्रनाथ ठाकुर की 'रॉबरी ऑफ़ द सॉयल'। इसमें फ़रमाया गया है कि उच्चस्तरीय जीवन की चाह ने, जो कभी समाज में छोटे स्तर पर ही विद्यमान थी लेकिन आज इसका आकार बहुत बड़ा हो गया है, प्राकृतिक स्रोतों और संसाधनों के दोहन का सिलसिला शुरू किया है। पानी ख़त्म हो रहा है, जंगल काटे जा रहे हैं, धरती बंजर हो रही है। प्रकृति के ऊपर हो रही यह हिंसा आदिवासियों, कृषि आधारित समुदायों और मछुआरों को गहराई से प्रभावित कर रही है।

यह पुस्तक भले ही हमसे सौ साल की दूरी पर हो, लेकिन इसकी प्रासंगिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। आज का विकास काफ़ी-कुछ पर्यावरण के दोहन से ही उत्पन्न हो रहा है। ओडीशा के नियमगिरी तथा झारखण्ड में बॉक्साइट-खनन ने आदिवासियों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है। विकास के नाम पर जंगल का अतिक्रमण करने वाली इन सरकारी नीतियों का यदि आदिवासी विरोध करता है तो उसे नक्सलवादी घोषित कर दिया जाता है। नक्सलवाद का निवारण होना चाहिए, लेकिन सवाल यह है कि कौन-सी सरकारी ख़ामियों के कारण इनका निवारण नहीं हो पा रहा है? क्या सरकार की तरफ़ से की गयी हिंसक कार्यवाहियों में मारे जाने वाले आदिवासी नक्सली हैं? या यह

---

[6] सुदीप्त कविराज (2000) : 43.

[7] सुदीप्त कविराज (1997) : 11-13.

समझ लिया गया है कि सभी आदिवासी नक्सली हैं? दूसरी तरफ़, क्या नक्सलियों के द्वारा की गयी कार्रवाई पूरी तरह आदिवासियों के हित में हैं? इन सवालों पर विचार करने की आवश्यकता है।

आदिवासी जीवन[8] में अतिक्रमण को समझने के लिए हमें यह सवाल भी ज़ेहन में रखना होगा कि क्या वन में रहने वाले सभी लोग आदिवासी हैं, या वे सिर्फ़ आदिवासी होने का दावा करते हैं। तेखरानाला गाँव के हवाले से कमल नयन ने 'बेजा क़ब्ज़ा' की परिघटना की निरंतरता को देखते हुए यह शिनाख़्त की है कि यहाँ बरगाह नामक एक ऐसी जाति भी है जो अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल न होने के बावजूद ख़ुद को आदिवासी के रूप में ही परिभाषित करती है। साथ ही जंगल के कई ऐसे गाँव हैं जहाँ मामा लोगों[9] के कारण वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा पेड़ों की बेजा कटाई और गाँव वालों को परेशान करने की गतिविधियाँ रुक गयी हैं। फयदू गाँव की मूल समस्या बेजा क़ब्ज़ा की ज़मीन पर सरकारी कर्मचारी का तय हिस्सा था। लेकिन 'मामा लोगों' के आने से यह समस्या समाप्त हो गयी। हिस्सा वसूल करने की प्रक्रिया में शामिल दमनकारी प्रवृत्तियाँ भी नगण्य-सी हो गयी। यहाँ मैं लेखक को एक द्वंद्व में देख रहा हूँ। लेखक स्वयं इस बात को अंकित करता है कि यहाँ माओवादी कोई आमूल-परिवर्तनवादी या रैडिकल एजेंडा लागू करने में सफ़ल नहीं हो पाए हैं। एक तरह से अभी ये इन क्षेत्रों में पैर जमाने की क़वायद ही कर रहे हैं। दूसरी तरफ़ ये गाँव आधुनिकता या प्रशासकीय कार्यों से बिल्कुल कटे भी नहीं हैं। वे स्कूली शिक्षा, जनगणना और पंचायत आदि राज्य द्वारा संचालित संस्थाओं से जुड़े हुए हैं तथा वन अधिनियम क़ानूनों से फ़ायदा लेने की आशा भी रखते हैं।[10]

जंगल-आश्रित समुदायों के विश्लेषण में अगर अतिक्रमण को आधार मान कर देखा जाए तो क़ानून एक प्रकार की धौंस का आवरण लेता हुआ दिखाई पड़ता है। इसीलिए जंगल पर नियंत्रण के क़ानून के ख़िलाफ़ जनसामान्य का विरोध तथा नक्सलवादी प्रभावित इलाक़ों में गोलबंदी का अंतर्विरोध-सा पैदा हो गया है। इससे एक ऐसा समाज निकला है जो शक्ति की संरचना तथा रोज़मर्रा के जीवन के संघर्ष में ख़ुद को हाशिये पर पाता है। लेखक ने इसे हाशियाई समाज की संज्ञा दी है।

हाशियाई समाज/राजनीतिक समाज तथा जंगल का संघर्ष[11]

हाशियाई समाज का प्रयोग करने से पहले कमल नयन सामाजिक आंदोलन और 'रोज़मर्रा के राज्य' के वाद-विवादों से गुज़रते हैं। वे इसे सामाजिक आंदोलन के नये और पुराने ढर्रे में समाहित करने से इंकार करते हुए मनोरंजन मोहंती द्वारा प्रवर्तित जनांदोलन की अवधारणा से जोड़ना ज़्यादा मुनासिब समझते हैं। मोहंती मानते हैं कि सामाजिक आंदोलन का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसमें एक विशेष मुद्दे पर ही गोलबंदी होती है। इसके स्थान पर मोहंती जनांदोलन का प्रयोग करते हैं जिसके तहत लोगों के द्वारा ज़्यादा आज़ादी और समानता हासिल करने की कोशिश का इरादा ज़ाहिर होता है। इसमें मोहंती वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ दलितों, आदिवासियों और महिलाओं आदि के अधिकारों के लिए लड़े जाने वाले संघर्षों को शामिल करते हैं।[12] दूसरी तरफ़ फ़ूको के विचारों में रोज़मर्रा की ज़िंदगी में राज्य-शक्ति के प्रभाव और शासकीयता से राज्य और समाज के बीच का विश्लेषण करते हुए प्रतिरोध का

---

[8] यह आदिवासी जीवन को समझने के लिए कमल नयन के द्वारा किये गये फ़ील्ड वर्क में सम्मिलित गाँव तेखरानाला, फयदू, सठोरा पर आधारित है. यहाँ मैं कमल नयन चौबे को एक ऐसे इतिहासकार की भूमिका में देखना चाहता हूँ जिसका आधार सबाल्टर्न स्टडीज़ के साथ जुड़ा है और मूल उद्देश्य इतिहास को मातहत वर्गों के नज़रिये से समझने और परखने का है. देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 208.

[9] 'मामा लोग', सरगुजा में आम लोगों द्वारा माओवादियों के लिए अमूमन इस शब्द का प्रयोग किया जाता है. बस्तर तथा दूसरी जगहों पर अलग सम्बोधन है, जहाँ इनके लिए 'दादा लोग' का प्रयोग करते हैं. देखें, पूर्वोक्त : 241.

[10] वही : 243.

[11] वही: 38.; संघर्ष का प्रयोग बार-बार इसलिए किया जा रहा है क्योंकि लेखक आंदोलन को नये और पुराने सामाजिक आंदोलन की श्रेणी में रखने के लिए तैयार नहीं है. बल्कि वह इसे एक 'हक़ हासिल' करने वाले आंदोलन के रूप में परिभाषित करता है.

[12] मनोरजन मोहंती (1998) : 17-18. साथ ही देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 39.

एक रास्ता दिखता है। लेखक हाशिये के समाज और राज्य की व्याख्या का परीक्षण करता है। उसकी यह क़वायद पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज से कई मायने में अलग भी है।

हाशियाई समाज तथा राजनीतिक समाज

एक अवधारणा के रूप में पार्थ चटर्जी राजनीतिक समाज का प्रयोग ऐसे समूह के लिए करते हैं जो अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है और अधिकांश मौक़ों पर उसकी गतिविधियाँ ग़ैर-क़ानूनी दायरे में चली जाती हैं।[13]

इस समाज को तीन आधारों पर समझा जा सकता है।[14] पहला, पार्थ चटर्जी सैद्धांतिक रूप से नागरिक समाज तथा राजनीतिक समाज के बीच अंतर करते हैं। वे नागरिक समाज को हेगेल तथा मार्क्स के अर्थ में लेते हुए एक बोर्ज़्वा समाज के रूप में ग्रहण करते हैं। इस समाज में आधुनिक समझौते के आधार पर संबंध बनते हैं। लेकिन ऐसा समूह बहुत छोटा होता है और इसे आसानी से पहचाना जा सकता है। दूसरा, संवैधानिक रूप से चटर्जी यह मानते हैं कि संविधान तथा क़ानून के अनुसार सभी लोग समान अधिकारों से सम्पन्न नागरिक हैं लेकिन इनमें ज़्यादा बड़ी संख्या उन नागरिकों की होती है जिनके पास यह अधिकार केवल नाममात्र का होता है। अधिकार-धारक नागरिक के रूप में इनकी स्थिति द्वैधपूर्ण होती है। ये अपने निवास-स्थान और जीविका आदि के संदर्भ में ग़ैर-क़ानूनी स्थिति में हो सकते हैं। इस आधार पर वे नागरिक समाज के सदस्य नहीं होते। लेकिन वे इस स्थिति में भी राज्य की पहुँच से बाहर नहीं निकल पाते। तीसरा, ऐतिहासिक आधार, जिसमें चटर्जी स्वयं इतिहासकार की भूमिका में हैं, पर उनकी मान्यता है कि पश्चिम में लोकतंत्र के उभार से एक नये प्रकार के अंतर का जन्म हुआ है। यह नागरिक और जनसंख्या के बीच का अंतर है जहाँ नागरिक सिद्धांत के दायरे में रहते हैं और आबादी नीति के दायरे में होती है। नीति आबादी की भलाई का दावा करती है, लेकिन इसकी तार्किकता खुलेपन पर आधारित नहीं है। वह सिर्फ़ लागत तथा फ़ायदे की गणना करती है।

> एक तरफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद के कारण बहुत से स्थानों पर आदिवासियों द्वारा भूमि अधिग्रहण का सफल विरोध हुआ है। साथ ही राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है और आदिवासियों की हौसला अफ़ज़ाई भी हुई है। दूसरी तरफ़, राज्य ने ख़ुद इस प्रकार की अवधारणा पर सवार होकर तथा कथित लोकोपकारी मार्ग छोड़ कर और हिंसा का सहारा लेकर अपनी वैधता स्थापित करने का भी काम किया है। कमल नयन ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद को वर्चस्व के रूप में न रख कर प्रभुत्व के रूप में देखते हैं।

जहाँ तक हाशियाई समाज की अवधारणा का सवाल है, कमल नयन ने प्रारम्भिक तौर पर स्पष्ट कर दिया है कि वे पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज की बुनियादी बातों को स्वीकार करते हुए उसमें कई नये पहलुओं को जोड़ते हैं। चटर्जी वनोत्पादों पर निर्भर जनजातीय लोगों और किसान समाज में अंतर करते हैं, लेकिन कमल नयन ने इस अंतर को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वे तर्क देते हैं कि जंगल या जंगल के नज़दीक बसे गाँवों में अधिकतर लोग खेती और वनोपार्जन दोनों पर निर्भर करते हैं। दूसरे, राजनीतिक समाज की तरह ही मार्जिनल सोसायटी के लोग कई गतिविधियों की दृष्टि से ग़ैर-क़ानूनी श्रेणी में आ जाते हैं। मिसाल के तौर पर वे या तो 'अतिक्रमणकारी' के रूप में होते हैं या वन विभाग द्वारा जंगल में इनकी गतिविधियों को ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया जाता है। तीसरे, हाशिये के समाज की बुनियादी विशेषता क़ानून के प्रति इसकी जागरूकता तो है, लेकिन यह जागरूकता क़ानून

---

[13] पार्थ चटर्जी (2008). हालाँकि मैं यहाँ नागर समाज की अवधारणात्मक बहस में नहीं जाऊँगा क्योंकि उसका सरोकार इस विमर्श से विभिन्न है.

[14] यह तीनों आधार पार्थ चटर्जी के विश्लेषण में देखे जा सकते हैं. देखें, पार्थ चटर्जी (2011).; साथ ही देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 40-41.

के दमन की गतिविधियों से आती है। वन के क़ानून ही इस प्रकार के हैं जो वन पर आश्रित जीवन को रोज़ाना के संघर्ष में धकेल देते हैं। वेरियर एल्विन का मानना है कि हमारे क़ानून इस तरह के हैं कि हर एक गाँव का बाशिंदा अपनी ज़िंदगी में हर रोज़ एक क़ानून तोड़ता है।[15]

क़ानूनवाद तथा 'लीगलिज़म फ्रॉम बिलो'

क़ानून के शासन की अवधारणा उदारतावादी लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। इसे सभ्यतामूलक कारक के रूप में भी परिभाषित किया गया है। यह उदारतावादी लोकतंत्र के लिए एक तरह की ढाल है, जो किसी भी प्रकार की राजकीय कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने का कार्य करता है। इस संदर्भ में कन्नाबिरन का मानना है कि राज्य तथा सरकार क़ानून की हुकूमत को सभ्यता से जोड़ कर हिंसा तथा युद्ध को न्यायोचित ठहराने का कार्य करते हैं। राज्य/सरकार के अंदर शक्ति और हिंसा सूक्ष्म विचारधारा की भाँति क्रियाशील रहती है[16] जिसे राज्य सुरक्षा के नाम पर परिभाषित और जायज़ ठहराने का कार्य करता है। राज्य जब सुरक्षा के नाम पर इस तरह की हिंसा करता है तो उससे जनता की अवधारणा परिवर्तित होकर उपद्रवी भीड़ (मॉब) की अवधारणा बनने लगती है। जंगल में बेजा क़ब्ज़े तथा अतिक्रमण की प्रक्रिया कुछ इसी प्रकार चलती है जो सबाल्टर्न तथा क़ानून के बीच अनुमत संघर्ष को जन्म देती है।

जहाँ तक ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद का प्रश्न है तो इसका प्रारम्भिक प्रयोग जूलिया एकर्ट ने भारत के शहरी विश्लेषण के अध्ययन के रूप में किया है, जबकि कमल नयन चौबे इसे हाशियाई समाज तथा राज्य के मध्य विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। एकर्ट के अनुसार ज़मीनी स्तर पर क़ानूनवाद राजकीय क़ानून के वर्चस्व को स्वीकार करता है और उसे बढ़ावा देता है।[17] इसके इतर वन अधिकार, क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन में उनकी भागीदारी तथा जागरूकता के मद्देनज़र क़ानून की बेहतरी तथा राज्य के अधिकारियों के ख़िलाफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद का उभार हुआ है।[18] इसका दोहरा परिणाम देखा जा सकता है। एक तरफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद के कारण बहुत से स्थानों पर आदिवासियों द्वारा भूमि अधिग्रहण का सफल विरोध हुआ है। साथ ही राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है और आदिवासियों की हौसला अफ़ज़ाई भी हुई है। दूसरी तरफ़, राज्य ने ख़ुद इस प्रकार की अवधारणा पर सवार होकर तथा कथित लोकोपकारी मार्ग छोड़ कर और हिंसा का सहारा लेकर अपनी वैधता स्थापित करने का भी काम किया है। कमल नयन ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद को वर्चस्व के रूप में न रख कर प्रभुत्व के रूप में देखते हैं।

आलोचनात्मक निष्कर्ष

इस चर्चा के आधार पर यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि प्रस्तुत पुस्तक गहन संवाद की सम्भावनाओं से लैस है। वह क़ानूनी विमर्श को आधार बना कर उसकी प्रक्रिया के ऐतिहासिक पक्ष को खोलती है और संघर्ष को ही राजनीति का अभिप्राय मानती है। इस अर्थ में यह रचना राजनीतिक इतिहास का निदर्शन बन जाती है। पुस्तक में सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन तथा सामाजिक इतिहास-बोध पर एक सुचिंतित विचार-विमर्श महसूस किया जा सकता है। यहाँ हाशिये के समाज की अवधारणा राजनीतिक समाज की तर्ज़ पर तैयार की गयी है। इसे सत्ता के राजनीतिक क्रियाकलाप के साथ-साथ स्वायत्तता की राजनीति के ज़रिये भी समझने की आवश्यकता है। तीसरी तरफ़, आदिवासी-प्रश्न के संबंध में क़ानून ऐसी किसी निर्णायक भूमिका में नहीं है कि उनकी सुरक्षा को प्राथमिकता पर रख सके।

---

[15] वेरियर एल्विन (1941) : 12.

[16] कन्नाबिरन (2004) : 2.

[17] कमल नयन चौबे (2015) : 35.

[18] वही : 49.

संदर्भ

कमल नयन चौबे (2015), 'जंगल में वनवासियों के अधिकार : क़ानूनी रूपरेखा और बदलाव का संघर्ष', *जंगल की हक़दारी: राजनीति और संघर्ष*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

:http:/kafila.org/2009/6/25 gaon-chodab-nahin/ 16 जून 2014 को देखा गया.

के.जी. कन्नाबिरन (2004), *द वेजेज़ ऑफ़ इम्प्युनिटी*, ओरियंट ब्लैक स्वान, नयी दिल्ली.

डेविड हार्डीमैन (2002), 'दक्षिण गुजरात में आदिवासी आत्माग्रह : 1922-23 का देवी आंदोलन', शाहिद अमीन तथा ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सं.), *निम्नवर्गीय प्रसंग*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2011), *लीनिएजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी: स्टडीज़ इन पॉस्टकोलोनियल डेमोक्रेसी*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

मनोरंजन मोहंती (1998), *पीपुल्स मूवमेंट: सोशल मूवमेंट ऐंड द स्टेट इन थर्ड वर्ल्ड*, सेज, नयी दिल्ली.

वेरियर एल्विन (1941), *लॉज़ ऑफ़ नर्व : अ कंपैरेटिव स्टडी ऑफ़ द कंटेंट्स ऑफ़ पीपुल्स इन एबऑरिजनल एरियाज़ ऑफ़ बस्तर स्टेट ऐंड द सेंट्रल प्रोविंसेज ऑफ़ इण्डिया*, वैगल प्रेस, मुम्बई और नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (1997), 'इंट्रोडक्शन', सुदीप्त कविराज (सं.), *पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

----------(2000), 'द मॉडर्न स्टेट इन इण्डिया', ज़ोया हसन (सं.) *पॉलिटिक्स ऐंड द स्टेट इन इण्डिया*, सेज.

सैद्धांतिक बहस और फ़ील्ड की आवाज़ें

सागर तिवारी

अंग्रेज़ों का भारत-आगमन यहाँ की वन-भूमि व उनके बसे लोगों के लिए आमूलचूल बदलाव लेकर आया। पूँजीवादी मंथन से गुज़रती ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिए यह उपमहाद्वीप बाज़ार एवं कच्चे माल के विशाल स्रोत के रूप में उभरा। शुरुआती दौर में भारतीय वनों ने ब्रिटिश जहाज़रानी उद्योग को उम्दा लकड़ी मुहैया करायी। इसके बाद अंग्रेज़ों का ध्यान समूचे भारतीय साम्राज्य को रेलवे से जोड़ने की ओर मुड़ा जिसमें पटरियाँ बिछाने के लिए उपजी लकड़ियों की बृहद् माँग ने वनों का महत्त्व और बढ़ा दिया। 1857 के विद्रोह को अंग्रेज़ी हुक़ूमत ने कुचल तो दिया, परंतु इस मद पर हुए विशाल ख़र्चों ने शासकों के समक्ष एक गम्भीर वित्तीय संकट से निपटने की चुनौती भी प्रस्तुत की। इन्हीं परिस्थितियों ने भारतीय वन अधिनियम की रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

उल्लेखनीय है कि भारत में हर जगह वनों का विनियमन और नियंत्रण सरकारी वन-विभाग के पास है जिसके कारण यह महक़मा औपचारिक रूप से भारत का सबसे बड़ा ज़मींदार बन गया है। इस विशाल विभाग द्वारा संचालित जंगलों में ऐसे लाखों परिवार रहते हैं जो जीवनयापन के लिए ज़मीन पर निर्भर हैं। वे जंगल की ज़मीन पर मोटे अनाज जैसे कोदो, कुटकी, ज्वार, बाजरा इत्यादि उगाते हैं जो

क़ानूनी रूप से अवैध है। वन-विभाग एवं वनाश्रित समुदायों के बीच लगातार एक तनातनी बनी रहती है। वन-भूमि पर पीढ़ियों से रह रहे लोगों को भी एक अंतहीन दमन चक्र झेलना पड़ता है। वन-विभाग की नज़र में इनकी हैसियत मात्र 'अतिक्रमक' की रही है।

हाल तक ये समुदाय क़ानून-संगत वैध नागरिकता की परिधि से आगे नहीं बढ़ पाए थे। इस स्थिति में एक आमूलचूल परिवर्तन 2006 में आया जब भारतीय संसद ने अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पारम्परिक वन निवासी (वन अधिकार की मान्यता) अधिनियम को मंजूरी प्रदान की। वन-अधिकार क़ानून के नाम से चर्चित यह अधिनियम वनाश्रित समुदायों के लम्बे संघर्ष की परिणति थी। इसने व्यक्तिगत तथा सामुदायिक अधिकारों को वैधता प्रदान की और इस तरह इन समुदायों पर हुए ऐतिहासिक अन्याय को स्वीकारते हुए उन्हें नागरिकता से जुड़े हक़ मुहैया कराने की पहल की गयी। इसी वन अधिकार क़ानून को धुरी बनाते हुए कमल नयन चौबे ने *जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष* की रचना की है। यह उनके पीएचडी-प्रबंध का विस्तृत रूप है जिसे माधव गाडगिल, रामचंद्र गुहा, महेश रंगराजन, अनिल अग्रवाल सरीखे विद्वानों के संबंधित विमर्श से आगे की कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए।

प्रथम अध्याय में कमल ने एक गहरी सैद्धांतिक और विचारधारात्मक बहस की रूपरेखा खींची है। औपनिवेशिक शासन में कई प्रक्रियाओं द्वारा एक नयी श्रेणी के रूप में 'वन' या 'जंगल' की क़ानूनी निर्मिति की गयी। उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य और लोकतंत्र के दौर में भी जंगल के अंदर निजी सम्पत्ति, क़ानून का शासन, संसाधनों पर राज्य के एकाधिकार (एमिनेंट डोमेन) जैसे तमाम मुद्दों पर यह हस्तक्षेप बदस्तूर जारी रहा। इस बहस में जनजाति की संकल्पना और मूल निवासी का विमर्श, सम्पत्ति की संकल्पना तथा जंगल की ज़मीन एवं संसाधनों पर आदिवासियों के हक़, पर्यावरण तथा वन्य-जीवों के संरक्षण से जुड़े क़ानूनों के प्रभाव और इसके अंतर्गत लोकतांत्रिक समाज में होने वाले बदलाव जैसे मुद्दों का भी ख़ाका खींचा गया है। यह बहस पार्थ चटर्जी द्वारा उत्तर-औपनिवेशिक लोकतंत्रों की कार्य-प्रणाली की व्याख्या हेतु प्रतिपादित नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) और राजनीतिक समाज (पॉलिटिकल सोसाइटी) के विमर्श से भी संवाद करती है। ग़ौरतलब है कि चटर्जी से सहमति प्रकट करने के बावजूद कमल यह मानते हैं कि उनका द्विखण्डीय सैद्धांतिक ढाँचा जंगल पर निर्भर करने वाले समुदायों की राजनीतिक व्याख्या नहीं कर पाता।

इतिहास के आईने में वन-भूमि आश्रित समुदाय व 'अतिक्रमण'

कमल की रचना का दूसरा अध्याय उपनिवेशकालीन एवं स्वतंत्र भारत के काल-खण्डों में पोषित वन-नीतियों का बेहतरीन वृत्तांत है। इस अध्याय में कमल ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है: 'क्या जंगल के संबंध में स्वतंत्र भारत की सरकार ने लोकतांत्रिक तरीक़े से काम किया या इस दौर में अपनाई गयी नीतियाँ औपनिवेशिक नीतियों की निरंतरता मात्र थीं?' उन्होंने गाडगिल / गुहा बनाम ग्रोव के बीच हुए जटिल ऐतिहासिक विमर्श को सरलीकृत रूप में बख़ूबी पेश करते हुए यह भी साबित किया है कि अंग्रेज़ों द्वारा लागू 'वन क़ानून' का मक़सद वन संसाधनों का दोहन करना था। कालांतर में वन-विभाग ने न सिर्फ़ लकड़ी बल्कि टेसिन, शाल, तारपीन, लाख, महुआ, तेंदु-पत्ता जैसे अनेकानेक वनोपजों पर अपना वर्चस्व स्थापित किया और औपनिवेशिक राज्य की कामधेनु गाय बन गया। वन-प्रबंधन की इस औपनिवेशिक नीति का सबसे बड़ा ख़मियाज़ा वनवासी लोगों को अदा करना पड़ा जिन्हें 'न तो जंगल के संसाधनों में कोई हक़ दिया गया और न ही इसके संरक्षण में कोई भूमिका दी गयी'। अपनी नीतियों के ख़िलाफ़ विद्रोह और हिंसात्मक संघर्ष को देखते हुए बाद में अंग्रेज़ों ने ज़मीनी स्तर पर अपने सख़्त क़ानूनों को लचीला बनाया। कई इलाक़ों में इन समूहों को 'झूम खेती' करने की 'छूट' तो मिली परंतु अधिकार किसी क़ीमत पर नहीं दिया गया। ग़ौरतलब है कि आज़ादी के आंदोलन में भी कांग्रेस ने आदिवासियों तथा वन-आश्रित समुदायों के मुद्दों की अवहेलना और अनदेखी करती रही।

प्रथम अध्याय के दूसरे भाग में 1947 से 1996 तक की भारतीय वन नीति, इसकी प्राथमिकताओं और वनवासी समुदायों पर इनके प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। सही मायनों में यह हिस्सा मौलिक है और राष्ट्रीय स्तर पर वन-नीति का बेहतरीन ख़ाका प्रस्तुत करता है। कमल दिखाते हैं कि स्वाधीनता के बाद भी वन-नीति में कोई आमूल-चूल बदलाव नहीं आया। केवल विमर्श के स्तर पर भी 'सार्वजनिक हित' की जगह 'राष्ट्रीय हित' ने ले ली। ऐमिनेंट डोमेन का सिद्धांत, जो वन-विभाग को सर्वेसर्वा बनाता था, बदस्तूर जारी रहा। राज्य नियंत्रित वनों के क्षेत्रफल में अभूतपूर्व इज़ाफ़ा हुआ। नतीजतन इनमें बसने वाले आदिवासी 'अतिक्रमक' घोषित कर दिये गये। आदिवासी समुदाय 'लिखित पट्टे' की अवधारणा से अपरिचित थे। अमूमन उनके अधिकार भी तय नहीं किये गये थे। नेहरूवादी योजनात्मक विकास के उभरते परिदृश्य में विशाल बाँध और कल-कारख़ाने आधुनिक भारत के नये 'मंदिर' बने। इन्हें खड़ा करने की प्रक्रिया में हुए विस्थापन का भी मुख्य बोझ इन्हीं वनाश्रित समुदायों के कंधों पर पड़ा।

1952 की राष्ट्रीय वन नीति के फलस्वरूप वन-विभाग के दायरे और अधिकार-क्षेत्र में भी निरंतर वृद्धि हुई। इसके द्वारा अर्जित राजस्व और वनकर्मियों की संख्या में भी अभूतपूर्व इज़ाफ़ा हुआ। जनसंख्या वृद्धि ने भी वनों पर ज़्यादा दबाव डाला, किंतु कमल के अनुसार 'जंगलों की दुर्दशा के लिए मुख्य रूप से वन-विभाग की ग़लत नीतियाँ ही ज़िम्मेदार थीं'। 1976 में संविधान के बयालीसवें संशोधन के द्वारा वनों को राज्यों की सूची से हटा कर समवर्ती सूची में शामिल कर लिया गया। इस दौर का दूसरा प्रमुख परिवर्तन था 1980 में पारित वन (संरक्षण) अधिनियम। इन बदलावों का एक दूरगामी असर यह हुआ कि आदिवासियों को भूमि अधिकार मिलना लगभग नामुमकिन हो गया। इसके ठीक विपरीत 'औद्योगिक विकास के नाम पर बहुत ज़्यादा मात्रा में वन-भूमि को सामान्य ज़मीन में बदला गया'। राज्य की इन हस्तक्षेपकारी नीतियों के चलते सत्तर के दशक से नये सामाजिक आंदोलन भी उपजे। इनमें प्रमुख थे चिपको व नर्मदा बचाओ आंदोलन। इनकी अनुक्रिया में 1988 में नयी राष्ट्रीय वन नीति तथा बाद में पेसा क़ानून, 1996 सामने आया। इनमें स्थानीय समुदायों और वन-विभाग के बीच तारतम्यता बढ़ाने की मंशा से प्रावधान रखे गये।

वन अधिकार क़ानून का निर्माण

किताब का तीसरा अध्याय वन अधिकार क़ानून, 2006 के निर्माण की कहानी बयान करता है। लेखक के अनुसार इस नये क़ानून के ज़रिये भारत सरकार की मंशा आदिवासियों के बीच माओवादियों के बढ़ते प्रभाव पर लगाम लगाने की थी। इसी के तहत जनवरी, 2005 में प्रधानमंत्री ने आदिवासी मामलों के मंत्रालय को विधेयक-निर्माण संबंधित निर्देश दिये। एक तकनीकी सहायता समूह द्वारा विधेयक तैयार किया गया। लेखक ने विधेयक के समर्थन में चले आंदोलनों और उसमें शामिल अलग-अलग मोर्चों का सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। इन संगठनों में प्रमुख नाम हैं भारत जन आंदोलन, राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच, कैम्पेन फ़ॉर सरवाइवल ऐंड डिग्निटी, एकता परिषद, पुनर्वास संघर्ष समिति इत्यादि। इन सभी ने विधेयक के विषय पर जन-सुनवाइयाँ आयोजित कीं और वन-आश्रित समुदायों के मध्य क़ानून के पक्ष में जागरूक व संगठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनके योगदान की ही बदौलत जनता का दबाव बढ़ा। शनैः-शनैः प्रमुख राष्ट्रीय व प्रांतीय पार्टियाँ भी विधेयक में सुधार लाकर उसे संसद से जल्द पारित कराने के पक्ष में आ खड़ी हुईं।

लेकिन विधेयक की विवादपूर्ण स्थिति और दूरगामी प्रभाव को भाँपते हुए सरकार ने सुरक्षित रास्ता अपनाया और मसविदे के निरीक्षण हेतु एक संयुक्त संसदीय कमेटी का गठन किया। इस कमेटी ने संरक्षणवादियों की चिंताओं को लगभग पूरी तरह ख़ारिज कर दिया और आदिवासी संगठनों की तक़रीबन सभी प्रमुख माँगें स्वीकार कर लीं।

फ़ील्ड की आवाज़ें

पुस्तक का चौथा अध्याय गहन फ़ील्ड वर्क पर आधारित है। इसके तहत लेखक ने जंगल की ज़मीन पर 'बेजा क़ब्ज़ा' के जटिल मसले की परतों को समझने का प्रयास किया है। लेखक ने छत्तीसगढ़ में आदिवासी बहुल सरगुजा ज़िले के चार गातों (तेखरानाला, फयदू, सठोरा और खेखरापोहर) को चुना और कई माह वहाँ बिताए। इस दौरान लेखक ने उक्त गाँवों की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक बनावट और सांस्कृतिक जीवन का रोचक दृश्य उकेरा है। उन्होंने ग्रामीण बुजुर्गों से सामूहिक रूप से बात की ताकि इनका हालिया इतिहास जाना जा सके। इसी प्रकार अन्य ग्रामीण परिजनों से वार्तालाप करके उनके रोज़मर्रा के जीवन, खेती की स्थिति, जंगल पर निर्भरता और आजीविका के मुद्दों— मसलन मज़दूरी आदि के विषयों पर जानकारी एकत्र की।

लेखक ने दिखाया है कि सरगुजा ज़िले में जंगल की ज़मीन पर बेजा क़ब्ज़ा या अतिक्रमण एक सामान्य परिघटना जान पड़ती है। ग्रामीणों का मानना है कि पटवारी के भ्रष्टाचार की वजह से भूमि का ग़लत वितरण हुआ है, परंतु इस असमान आबंटन में निश्चय ही वर्ग और जातिगत समीकरणों की भी अहम भूमिका रही है। इस अध्ययन में 1997–98 में तेखरानाला तथा सठोरा गाँव में चले विस्थापन विरोधी आंदोलनों का भी वर्णन दिया गया है। इन आंदोलनों के ख़िलाफ़ सरकार ने दमनकारी मुद्रा अपनाई और हिरासत में लिए आंदोलनकारियों पर सख़्त धाराओं के अंतर्गत मुक़दमे ठोंक डाले। उसे उम्मीद थी कि इससे आंदोलन की आर्थिक कमर टूट जाएगी। किंतु सरकार ने उनका उत्साह ठण्डा न होते देख क़दम खींच लिए।

इस अध्याय का एक और संजीदा पहलू है माओवादियों के प्रभाव का विवरण। जंगली क्षेत्रों में नक्सलियों की दख़लअंदाज़ी बढ़ने से एक तरफ़ वन-विभाग की मनमानी पर अंकुश लगा है, वहीं दूसरी ओर गाँव के लोगों द्वारा पेड़ काट कर ज़्यादा खेत बनाने की प्रवृत्ति पर भी लगाम कसी है। कई ग्रामीणों ने जंगलों के संसाधनों की सुरक्षा के लिए माओवादियों की तारीफ़ की है। फयदू और सढोय गाँवों में इनका प्रभाव है। यहाँ इनकी घुसपैठ 2004–05 के दौरान हुई थी। कमल के इस वर्णन से यह बात साफ़ दिखाई देती है कि लोगों के जीवन पर वन-विभाग का बहुत गहरा प्रभाव है। लेखक के मुताबिक़ 'वन-विभाग के कर्मचारी स्थानीय समुदायों को न सिर्फ़ संदेह की दृष्टि से देखते हैं बल्कि उन्हें सारी समस्याओं की जड़ भी मानते हैं। यह भी साफ़ है कि स्थानीय समुदायों और वन-विभाग के बीच आपसी विश्वास की ज़बरदस्त कमी है।'

वन अधिकार : क़ानून के क्रियान्वयन की प्रक्रिया

वन अधिकार क़ानून के क्रियान्वयन से संबंधित अपने अध्याय में कमल ने फ़ील्ड वर्क के गाँवों के अलावा अन्य राज्यों का ब्योरा भी जुटाया है। इन आँकड़ों से काफ़ी चौकाने वाली जानकारी सामने आती है। मसलन, कुछेक अपवादों छोड़कर समूचे भारत में वन-भूमि पर पट्टों के दावे नकार दिये गये हैं। क़ानून के क्रियान्वयन के दौरान वन-विभाग समेत समस्त सरकारी तंत्र ने ग्राम-सभा की उपेक्षा की है और 'जान बूझ कर क़ानून के लागू होने में रोड़े अटकाए' हैं। विशेषकर वन-विभाग ने अपनी श्रेष्ठता थोपने का अनवरत प्रयास किया है।

क़ानून लागू होने के बाद भी जंगल के संसाधनों तथा उसके संरक्षण में स्थानीय समुदायों की हिस्सेदारी की मुकम्मल तस्वीर नहीं उभर पाई है। विशेषकर सामुदायिक अधिकारों की पूरी तरह अवहेलना की गयी है। अध्याय के एक संक्षिप्त हिस्से में लेखक यह भी दिखाते हैं कि सलवा जुडूम तथा ऑपरेशन ग्रीन हंट द्वारा प्रभावित बड़े वन-क्षेत्रों में राज्य प्रायोजित हिंसा अथवा राज्य के दमन के कारण ही यह क़ानून लागू नहीं हो पाया है।

अध्याय में राजाजी नेशनल पार्क के संरक्षित क्षेत्रों में वन गुर्जरों के संघर्ष का दिलचस्प विश्लेषण

मिलता है। यहाँ भारत के अन्य अभयारण्यों, वन अधिकार क़ानून के संदर्भ में कुछ विशेष श्रेणी के वन-आश्रित समुदायों जैसे पीटीजी (प्रिमिटिव ट्राइबल ग्रुप), घुमंतू (यायावर) चरगाही समुदाय, झूम खेती करने वाले समुदाय एवं वन गाँवों की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने नये क़ानून की विकास योजनाओं के संदर्भ में व्याख्या की गयी है। उनका कहना है कि आंदोलनकारियों और स्थानीय समुदायों ने वन अधिकार क़ानून का उपयोग एक हथियार के तौर पर किया है। बेशक, इन संघर्षों में सामुदायिक जागरूकता एवं संगठित गोलबंदी भी अहम रूप से मौजूद रही है। पर फिर भी कॉरपोरेट-राज्य के मज़बूत गठजोड़ को चुनौती देने में 'क़ानून उनके संघर्ष का एक बहुत महत्त्वपूर्ण दायरा और एक साधन है।'

जब संसाधनों पर छिड़ी जंग ने सम्पूर्ण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था को धरातल पर पटक दिया हो, अथवा जब मध्य भारत में गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियों से आदिवासियों का रोज़ साक्षात्कार हो रहा हो, तब इस खेल में लगाए गये दाँव बहुत ऊँचे हो जाते हैं। ऐसे में यह मानना कि नागरिक समाज के समस्त अंग-प्रत्यंग नि:स्वार्थ भाव से आदिवासियों का केवल भला ही चाहते हैं और उनमें कोई दुराव भी मौजूद नहीं रहा है, एक संदिग्ध बात लगती है।

इस अध्याय में वन अधिकार क़ानून के तहत संघर्षों में महिलाओं की भूमिका का भी आकलन किया गया है। इसमें प्रस्तुत अधिकतर साक्ष्य व वितरण राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच (एनएफएफपीडब्ल्यू) के हवाले से आया है। ग़ौरतलब है कि इस क़ानून का एक सबसे प्रगतिशील प्रावधान यह रहा है कि पति एवं पत्नी दोनों के नाम ज़मीन का पट्टा दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त अकेले जीवनयापन कर रही महिलाओं को भी अधिकार दिया जाएगा। लेकिन बाक़ी श्रेणियों की ही भाँति यह अधिकार उनकी झोली में आ नहीं पा रहे हैं। अन्य वर्गों की तरह विशेषकर इनके सामूहिक दावे ख़ारिज किये जा रहे हैं। इसके विरुद्ध महिलाएँ लामबंद भी हुई हैं और वनोपजों पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित करवाने के लिए कमर कसकर संघर्षरत भूमिका में हैं। महिलाओं की इस भागीदारी से उनकी राजनीतिक सम्भावनाएँ भी अधिक विस्तृत और बलवती हुई हैं। कमल लिखते हैं कि 'यह एक तरह से ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद (लीगलिज़म फ्रॉम बिलो) का प्रसार है। ऐसे में क़ानून संघर्ष के एक ऐसे स्थल के रूप में तब्दील हो चुका है, जहाँ राज्य इकतरफ़ा तरीक़े से स्थानीय वनवासी समुदायों पर अपनी मन मर्ज़ी नहीं थोप रहा है, बल्कि वन वनवासी लोग भी अपने हक़ की लड़ाई में क़ानून का बेहतर इस्तेमाल कर पा रहे हैं। कम-से-कम वन अधिकार क़ानून इस संदर्भ में एक सम्भावना का द्वार ज़रूर खोलता है।

लेखक ने पाँच विस्तृत अध्यायों के बाद पूरी पुस्तक को समेटते हुए एक कसा हुआ निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। इस छोटे निबंध में कमल ने 2011-12 तक घटित क़ानूनी संशोधनों और जन-सत्याग्रह आंदोलनों की रूपरेखा पेश की है। उनका मानना है कि अपनी समस्त प्रगतिशीलता के बावजूद वन अधिकार क़ानून की अपनी सीमाएँ हैं। मसलन, इस क़ानून में जंगल की ज़मीन पर वन-विभाग का दबदबा ख़त्म करने की क्षमता तो ज़रूर है परंतु इस सारगर्भित सम्भावना की पूर्ति हेतु वन-आश्रित समुदायों को निरंतर संघर्षरत रहना होगा। एक प्रकार से यह रस्साकशी का खेल है जिसमें क़ानून बीच की रस्सी है। ऐसे में, जीत ज़्यादा दम लगाने वाले पक्ष को ही मिलेगी।

ख़ूबियाँ व कमियाँ

कमल नयन चौबे की यह पुस्तक शोध के ऊँचे मापदण्डों को क़ायम रखती है। इसकी भाषा चुस्त एवं सुरुचिपूर्ण है। कमल ने विश्लेषण को लगभग हर जगह बिंदुवार तरीक़े से प्रस्तुत किया है जो कि इस जटिल समस्या की गाँठ खोलने का सही तरीक़ा है। पुस्तक की काल-क्रमात्मक व विवरणात्मक शैली भी इसे जंगल भूमि के गूढ़ विषय पर एक सम्यक ग्रंथ बनाती है।

लेकिन, अंत में पुस्तक की कुछ ख़ामियों की ओर इशारा करना ग़ैर-मुनासिब न होगा। मेरे ख़याल में पहले अध्याय में प्रस्तुत सैद्धांतिक विमर्श कुछ ज़्यादा विस्तृत हो गया है। किताब में 55 पृष्ठों का जटिल सैद्धांतिक तानाबाना सामान्य पाठक वर्ग को विचलित एवं जकड़ सकता है। इसमें कसावट की गुंजाइश थी। पुस्तक के बाक़ी अध्याय रोचक शैली में तो ज़रूर लिखे गये हैं परंतु इसमें भी कुछ चुभने वाली कमियाँ हैं। मसलन 'बेजा क़ब्ज़ा' शब्द हर दफ़ा इन्वरटेड कॉमा में प्रयुक्त हुआ है। कई जगह इसकी अतिशयोक्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए पृष्ठ 244-45 पर मौजूद पैरा में यह 11 बार और पृष्ठ 220-222 पर एक निहायत ही लम्बे पैरा में 20 बार इसी रूप में दोहराया गया है। इसी तरह की अनुशासनात्मक कमी के चलते तर्कों एवं विश्लेषणात्मक बिंदुओं की भी पुनरावृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए माओवादियों के प्रभाव से संबंधित विचार अन्य जगह भी फैले हुए हैं।

मुझे पुस्तक में दो तात्त्विक कमियाँ भी महसूस हुईं। पहली, सम्पत्ति के विषय पर गहन सैद्धांतिक विवेचना के पश्चात् फ़ील्ड-वर्क आधारित अध्याय में प्रस्तुत वस्तुनिष्ठ तथ्यों से इस विवेचना का संवाद होना चाहिए था। वन अधिकारों में मौजूद सामुदायिक अधिकारों के महत्त्व एवं वन-विभाग द्वारा इनकी जानबूझकर की गयी उपेक्षा को कमल ने बख़ूबी उजागर किया है परंतु विश्लेषण के इस स्तर से ऊपर उठने के लिए सिद्धांत का आचरण से द्वंद्वात्मक संबंध स्थापित करना एक आवश्यक शर्त है। मुझे लगता है कि लेखक ने वन अधिकार क़ानून से सम्बद्ध नागरिक समाज की भूमिका का बेहद सरलीकृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जब संसाधनों पर छिड़ी जंग ने सम्पूर्ण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था को धरातल पर पटक दिया हो, अथवा जब मध्य भारत में गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियों से आदिवासियों का रोज़ साक्षात्कार हो रहा हो, तब इस खेल में लगाए गये दाँव बहुत ऊँचे हो जाते हैं। ऐसे में यह मानना कि नागरिक समाज के समस्त अंग-प्रत्यंग नि:स्वार्थ भाव से आदिवासियों का केवल भला ही चाहते हैं और उनमें कोई दुराव भी मौजूद नहीं रहा है, एक संदिग्ध बात लगती है। शायद लेखक ने अपने अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को दरकिनार किया है। वह यह है कि 'क्या हाशिये के समाज ने नागरिक समाज को हमेशा सकारात्मक भूमिका में ही देखा है?'

वन अधिकार आंदोलनों पर लगातार नज़र रखने वाले यह सच्चाई भली-भाँति जानते हैं कि आदिवासी आंदोलनों में नागरिक समाज से ताल्लुक़ रखने वाले लोगों की भूमिका कई दफ़ा संदेहास्पद भी रही है। इन्होंने कई बार सत्ता, कॉरपोरेट एवं स्थानीय सेठ-साहूकारों के साथ हाथ मिलाकर अपने स्वार्थ सिद्ध किये हैं। एकता परिषद इसका बेहतरीन उदाहरण है। इस संगठन ने जनता-जनार्दन के बीच 'जल जंगल और ज़मीन' का नारा ख़ूब प्रचारित किया। विस्थापन के विरुद्ध विभिन्न राज्यों में अनेकानेक पद-यात्राएँ, जन-सुनवाइयाँ और जन-सत्याग्रह के गाँधीवादी राह पर चले। एक दौर तक इन्हें अपार जन-समर्थन भी मिला किंतु कई बार इनके आला 'अधिकार-अधिवक्ताओं' ने बेसिर पैर के निर्णय लेकर आंदोलन की संचित ऊर्जा और उम्मीदों को अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ा दिया।

बहरहाल, कमल नयन चौबे ने इस पुस्तक पर बहुत परिश्रम किया है और वे बधाई के पात्र हैं। भविष्य में इस विषय पर काम करने वाले अध्ययनकर्त्ताओं के लिए यह किताब अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी तथा आगे की राह प्रशस्त करेगी।